RESEARCH COMMUNICATIONS
(An International Open Access, Peer Reviewed, Multidisciplinary Online Journal)
https://research-communications.cmpcollege.ac.in
C. M. P. DEGREE COLLEGE
(A Constituent P.G. College, University of Allahabad)

Volume-3, Issue-2, July-December 2025, pp 84-92 ISSN: 2584-1270

DOI: doi.org/10.65719/RC.3.2.2025.084

प्राकृत और मुक्तक— कवि

दीप्ति विष्णु

असिस्टेंट प्रोफेसर (संस्कृत विभाग)
सी० एम० पी० डिग्री कालेज, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश।
ई-मेल: *drdiptivishnu@gmail.com*

सारांश

भारतवर्ष की इस पुण्यभूमि में आस्तिक, नास्तिक, वैदिक, अवैदिक, ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी आदि सभी परस्पर अविरूद्ध विचार रखने वाले एक दूसरे को कष्ट दिए बिना फलते-फूलते और वृद्धि पाते रहे हैं और एक ही कुटुम्ब में वैदिक, बौद्ध व जैन धर्म एक साथ अपना अस्तित्व बनाए हुए है। मतविभिन्नता के कारण यहां के लोग किसी से द्वेष या वैर नहीं करते, बल्कि दूसरों को आदर की दृष्टि से देखते है। यही कारण है कि यहां चार्वाक-दर्शन के प्रणेता 'महर्षि' के महत्वसूचक पद से सत्कृत किए गये हैं और वेदविरोधी भगवान् ऋषभदेव तथा बुद्धदेव 'अवतार' माने गए हैं।

संस्कृत व पालि भाषाओं के समान ही प्राकृत भाषा में भी ई0पू0 छठीं शताब्दी से 1800 ई0 सन् तक विपुल साहित्य का निर्माण हुआ जिस प्रकार संस्कृत में वैदिक धर्म से सम्बद्ध आचारशास्त्र, धर्मशास्त्र, काव्य, व्याकरणादि विधाओं पर विशाल वाङ्मय का निर्माण हुआ, जिस प्रकार पालि में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित पिटकों, अट्ठकथाओं व थेरवादी ग्रन्थों का निर्माण हुआ, उसी प्रकार जैन धर्म से सम्बद्ध आगमग्रन्थों (लगभग 46 ग्रन्थों), काव्यों, भाष्य चूर्णी व व्याकरणादि ग्रंथों का प्रणयन प्राकृत भाषा में किया गया। प्राकृत साहित्य को धर्माश्रय के साथ-2 राज्याश्रय व लोकाश्रय भी प्राप्त था। इस साहित्य में जनसाधारण की भावनाएं बहुशः अभिव्यक्त हुई हैं। प्राकृत भाषा का गाथासप्तशती आदि मुक्तक काव्य काम- कला के तत्व दर्शन (रहस्य) को गोदावरी, नर्मदा, रेवा परिसर के पहाड़ी ग्रामों अर्थात एक विशेष भूमि खंड और वहां के निवासियों का स्वच्छंद जीवन दर्शन है। कालांतर में यह गाथाएं संस्कृतच्छाया में रूपांतरित होकर समूचे देश में पढ़ी गई। राजशेखर ने कर्पूर मंजरी और धन्यालोक के प्रथम उद्योत में इन गाथाओं को खूब उद्धृत किया गया।

कूट शब्द– *प्राकृत, जनसामान्य, व्यङ्ग्यार्थ, जन–जीवन, मुक्तक, काव्य*

प्रस्तावना

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में पालि के साथ ही प्राप्त होने वाली प्राकृत भाषा के वर्गीकरण के रूप में अधोलिखित सात प्रकार की प्राकृत के नाम प्राप्त होते हैं, जिनका उल्लेख नाट्यशास्त्र में भी प्राप्त होता है-

माग्ध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।

बाहलीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः।।

नाट्य शास्त्र 17/48

राजशेखर के युग में प्रत्येक संस्कारी व्यक्ति के लिए संस्कृत के साथ-2 देशी भाषाओं का ज्ञान व इनकी कविताओं व साहित्य का ज्ञान/अभ्यास सहृदय या कवि के लिए अपरिहार्य समझा जाता था। भारतीय साहित्य के बारे में खण्ड दृष्टि रखने वाले ही इस परम्परा को विद्रोह रूप में स्थापित करते हैं, अन्यथा तो यह परम्परा पूरक है, विरोधी नहीं। कालिदास-युग तक यह बात प्रतिष्ठित हो गई थी कि-

द्विधाप्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनोव।

संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं, वधूं सुखग्राहयनिबन्धनेन।।

शिव की वंदना सरस्वती ने संस्कृत के माध्यम से व पार्वती की सुखग्राह्य प्राकृत के माध्यम से की। लोकगीतों की परम्परा का निश्चय ही इसमें संकेत मिलता है। संस्कृत व प्राकृत में काया–छाया का संबंध है।

प्राकृत लोकभाषा विश्व की अतिप्राचीन व लोकप्रिय लोकभाषा है। जिसका प्रयोग सनातनकाल से संतजन आत्मशक्ति संवर्धन व लोककल्याणार्थ करते आए हैं। प्राकृत व संस्कृत में एक सहज अक्षुण्ण सम्बन्ध है, बल्कि दोनों एक दूसरे के पूरक रूप में है। प्राकृत का प्रभाव व योगदान संस्कृत काव्यशास्त्र में अनेकत्र दृष्टिगोचर है-

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः।

सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम्।।

(राजशेखर-बालरामायण)

एक प्रसिद्धि है कि संस्कृत-काव्य राजाओं के यश का ही आख्यान करता है। संस्कृत-काव्य-रचना का सारा संसार राजचरित, राजसभा व राजपरम्परा में अनुस्यूत है। इस मत के समर्थन में रत्नावली, कर्पूरमंजरी, मालविकाग्निमित्रम् आदि हैं। किन्तु इस मान्यता व परम्परा का अपवाद भी है, जिसमें ऐसे कवियों की गणना की जा सकती है, जिन्होंने संस्कृत में मुक्तक रचनाएं की यथा-योगेश्वर, शतानन्द, प्रवरसेन, लक्ष्मीधर आदि।

दूसरे प्रकार के कवि वे हैं जिन्होंने उस समय की लोक-भाषा में लोक-जीवन के भावों को निबद्ध किया है। इन्होंने अपने काव्य मुक्तकों में गांव के ठेठ जीवन, चरवाहा, वनवासियों की संस्कृति, उनके रहन-सहन, भोजन जैसे विषयों को काव्य का रूप दिया है।

डॉ नेमिचंद्र शास्त्री ने "पूर्वापरनिरपेक्ष स्वत: पर्यवसित काव्य[1] "को मुक्तक गीतिकाव्य कहा है। ध्वन्यालोककार के शब्दों "पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम।" अर्थात जो काव्य अर्थ -पर्यवसानके लिए पराक्षेपी ना हो, वह "मुक्तक" कहलाता है। प्राकृतमुक्तकों की अभिनव एवं प्रौढ परंपरा गाथासप्तशती से आरंभ होती है, किंतु इसकी गीतिकाव्यात्मक प्रौढि यह इंगित करती है कि इत:पूर्व भी प्राकृत की गीति मुक्तको की रचनाएं अस्तित्व में आ चुकी होगी। गोवर्धनाचार्य की आर्यासप्तशती, अमरूक का अमरूकशतक एवं भर्तृहरिशतक तो निश्चय ही प्राकृत गीति मुक्तक के आधेय हैं।

इस संदर्भ में यहाँ दो प्रमुख प्राकृत मुक्तक काव्यों का उल्लेख इस प्रपत्र में हैं-

प्रथम गाहासत्तसई, द्वितीय लज्जावग्ग।

गाथासप्तशती अथवा गाहासत्तसई

श्रंगाररस प्रधान, महाराष्ट्रीप्राकृत में लिखी गई गाथाओं का प्रतिनिधि संकलन रूप है। इसकी गाथाएं कई कवियों द्वारा लिखी गई है, जिनमें कुछ नाम ये हैं-प्रवरसेन, सर्वसेन, मान, देव कर्ण, ईशान। कहा जाता है कि आन्ध्रवंश के सातवाहन राजा और कवि हाल[2] ने पहली-दूसरी शती ई0 में इन गाथाओं के सप्तशतक का संकलन किया, गाथा सप्तशती के अंत में 700 संख्या के बाद यह गाथा दी हुई है–

इत्र सिरि हालविरइए पाउअकव्वम्मि सत्तसए।

सत्तमसअं समत्तं गाहाणं सहावरमणिज्जं।।

अर्थात् मन को रमणीय लगने वाला हाल-विरचित गाथा-सप्तशतक का सातवां शतक समाप्त हुआ। और आरम्भ में पहले शतक की तीसरी गाथा इस प्रकार है-

सत्त सताई कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्भि।

हालेण विरइआई सालंकाराणं गाहाणं ।।

अर्थात् कवियों पर अनुग्रह करने वाले हाल ने उक्ति-वैचित्र्य से युक्त करोड़ गाथाओं में से ये सात सौ गाथाएँ संगृहीत की हैं। हाल कवि की स्थिति और इसमे संगृहीत कवियों की रचनाओं को देखते हुए ऐसा आभास मिलता है कि जब हाल ने इन गाथाओं का संकलन किया था तब सात सौ गाथाएँ नहीं थीं। यद्यपि हाल ने पहली शती ई० में महाराष्ट्री प्राकृत की इन गाथाओं का संकलन किया तथापि इसमें वाकाटक राज्य-काल के प्रसिद्ध षट्पंचाशत कवियों (छप्पण्णय कवि) की प्रतिनिधिभूत गाथाएँ भी सम्मिलित की गयीं होंगी।

इसकी गाथाओं में सौ में अस्सी गाथाएँ श्रृंगार, प्रेम के ललितोद्गार का उत्कृष्ट निदर्शन हैं। इनकी उत्कृष्टता इस बात में है कि इनके भाव ठेठ, सहज और मन की स्वाभाविकता से अत्यन्त ही सजीव है। इनमें धर्म और संस्कृति की रूढिगत परम्परा का उल्लंघन और तिरस्कार है। अलंकृत और ध्वन्यर्थप्रधान आर्या छन्द में लिखी ये गाथाएँ शुद्ध रूप से गाँव, किसान, बनवासी आदि के जीवन के आनन्द का निचोड़ हैं। गाथाओं में अनेक स्थल पर उसके कथन हालिक (हल चलाने-वाला किसान) हालिकपुत्र या हालिकपुत्री को सम्बोधित कर कहे गये हैं।

अनेक गाथाएँ ऐसी है जिनमें प्रेमियों के मिलने के संकेत-स्थानों का निर्देश होता है। यह निर्देश ऐसी काव्य-वाणी में है जिसको शास्त्रीय परिभाषा में तो विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि कहा जायगा पर उसका वास्तविक अर्थ या भावों का स्फुट सौन्दर्य वहाँ व्यक्त होता है जहाँ विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि अपना आधार समाप्त कर देती है। जैसे-

उअरि दरदिट्ठथण्णुअणिलुक्कपारावआणं विरुएहिं।

णित्पणइ जाअत्रेचणं सुलाहिण्णं व देअउलं।।1।64।।

(उपरीषदृष्टशकुनिलीनपारावतानां विरुतैः।

निस्तनति जातवेदनं शूलभिन्नमिव देवकुलम्।।)

इस गाथा का शब्दार्थ यह है कि (रात्रि में) मन्दिर के ऊपर ईषत् दिखाई पड़ने वाली कील में विलीन कबूतरों के कूजन से मानो शूल द्वारा आहत मन्दिर ही वेदना में तड़प रहा है।

इस शब्दार्थ का भावार्थ इस प्रकार है। रात्रि का समय है, प्रेमिका ने अपने प्रेमी को मन्दिर पर मिलने का संकेत दिया था। प्रेमी वहाँ पहुँच गया। उसके पहुँचने पर मन्दिर के ऊपर रहने वाले कबूतरों ने किसी की आहट पाकर अपना कूजन शुरू कर दिया। प्रेमिका जो अभी घर के कार्यों में व्यग्र होने से संकेत स्थान पर पहुँच नहीं सकी थी वह कूजन उस शूल द्वारा आहत हृदय की वेदना के रव में परिणत हो रहा है।

ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि और वक्रोक्ति सिद्धान्त के अनुसार सहज वस्तुवक्रता के अन्तर्गत प्रस्तुत गाथा की उक्त वस्तु योजना आती है, जिसे हम संभोग और विप्रलम्भ श्रृंगार के बीच उत्कण्ठा की सन्धि के रूप में ग्रहण करेंगे। यह न संभोग श्रृंगार है न विप्रलम्भ श्रृंगार है। किन्तु दोनों के बीच का ऐसा उत्कृष्ट लालित्य है जिस लालित्य की समानता दिन और रात के बीच में आने वाली सन्ध्या से की जा सकती हैं। वैसे कहने को तो काव्यशास्त्रीय अध्ययन में इसकी व्याख्या कहीं न कहीं संगतार्थ कर दी जायगी, पर सच पूछा जाय तो काव्य-वस्तु के इस लालित्य का व्याख्यान हमारे साहित्याचार्यों ने नहीं किया है। दूसरा उदाहरण देखिए, जिसमें बड़ी सूक्ष्मता से संकेत स्थान का निर्देश किया जा रहा है-

मरगअसूईविद्धं व मोत्तिअं पिअइ आअअग्गीओ।

मोरो पाउसआले तणगलग्गं उअअबिन्युं। 4/94।।

(मरकतसूचीविद्धमिव मौक्तिकं पिबत्यायतग्रीवः।

मयूरः प्रावृट्काले तृणाग्रलग्नमुदकबिन्दुम्।।)

गाथा का अर्थ है कि जब वर्षाकाल में पानी बरसता है तो ऐसे तृण जिनके ऊपर लम्बी नोक होती है उन हरित नोकों पर मोती के समान जलबिन्दु रुका हुआ है और प्यासा मोर अपनी गर्दन लम्बी कर उन तृणों के मुक्ता-सदृश जल-बिन्दुओं को पी रहा है।

कहने को तो यह वर्षाकाल का एक वस्तु-चित्र है लेकिन गाथा के अर्थ का जब हम सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं तो पता चलता है, इसमें रात्रि में मिलने के संकेत-स्थान का निर्देश किया जा रहा है। इसीलिए मोर की चर्चा की गयी। मोर जलबिन्दुओं को पी रहा है। किसी दूसरे पक्षी का भी नाम यहाँ लिया जा सकता था। पर तब बात न बनती। मोर जल-बिन्दुओं को पी रहा है-कहने का अर्थ यह हुआ कि रात्रि में वहाँ कोई देखता नहीं, न किसी की दृष्टि पड़ती है। क्योंकि मोर रात्रि में देखता नहीं, अन्धा हो जाता है। इसलिए 'मोर' शब्द यहाँ 'रात्र्यन्ध' का पर्याय हो गया। इस गाथा का सारा लालित्य **'मोरो पाउसआले'** (**मयूरः प्रावृट्काले**) पदों में निहित है। जिसे विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि की परिभाषा में बाँधा नहीं जा सकता। इसमें वाच्यार्थ भी कम चमत्कारी नहीं है।

गाथा-सप्तशती में नीति और जीवन के अनुभव की उक्तियों के भी अनेकों दृष्टान्त हैं। एक उक्ति देखिए-

अहव गुणव्विअ लहुवा अहवा गुण अणुआं ण सो लोओ।

अहव हिम णिग्गुणा वा बहुगुणवन्तो जणो तस्य।। 3/3

(अथवा गुणा एव लघवोऽथवा गुणज्ञो न स लोकः।

अथवास्मि निर्गुणा वा बहुगुणवांजनस्तस्य।।),

अर्थात् अपने प्रिय को नायिका दूसरे के प्रेम में आकृष्ट देखकर दुःख के साथ सोच रही है कि यह मेरे गुणों का अनादर कर रहा है, अथवा यह हो सकता है कि यह गुणों को पहचानता न हो, या यह बात हो सकती है कि मुझमें कोई गुण ही न हो और जिसके प्रेम के प्रति आकृष्ट है वह अधिक गुणवती होगी।

पिता के मन में अपनी परम्परा की रक्षा के लिए कितनी अधिक चिन्ता होती है और वह पुत्र को इसके प्रति कितना सजग देखना चाहता है, यह भाव निम्न गाथा में है। गांव का मुखिया जो मृत्यु के निकट है, अपने पुत्र से कह रहा है कि पुत्र ऐसा काम करना जिससे मेरा नाम लेने पर तुम्हें कोई लज्जित न करे-

अप्पाहेइ मरन्तो पुत्तं मल्लीवई पअत्तेण।

मह णामेण जह ठुमं ण लज्जसे तह करेज्जासु ।। 7/32

(शिक्षयति म्रियमाणः पुत्रं पल्लीपतिः प्रयत्नेन।

मम नाम्ना यथा त्वं न लज्जसे तथा करिष्यसि।।)

सज्जन व्यक्ति की प्रकृति के सम्बन्ध में एक उक्ति देखिए, जिसमें कवि कह रहा है कि सज्जन को अपने अपमान से उतना क्षोभ नहीं होता, जितना दुःख उसे उस समय होता है जब वह वैभव के अभाव में अपने मित्र का प्रत्युपकार नहीं कर पाता-

अवमाणिओ वि ण तहा दुमिज्जइ सज्जणो विहवहीणो।

पडिकाऊं असमत्थो माणिज्जन्तो जह परेण।। 4/20

(अवमानितोऽपि न तथा दूयते सज्जनो विभवहीनः।

प्रतिकर्त्तुमसमर्थो मान्यमानो यथा परेणा।।),

वानरों की प्रकृति का रोचक वर्णन देखिए-

ओसरइ धुणइ साहं खोक्खामुहलो पुणो समुल्लिहइ।

जम्बूफलं ण गेह्इ भमरो त्ति कई पढम डक्को।। 6/31

(अपसरति धुनोति शाखां खोक्खामुखरः पुनः समुल्लिखति।

जम्बूफलं न गृहणाति भ्रमर इति कपिः प्रथमदष्टः।।)

जामुन के फल पके हैं वानर ने उसे तोड़ कर खाना चाहा, पर जामुन पर बैठे हुए भौरे ने वानर को काट लिया। इससे वह समझ बैठा कि यह जामुन काटनेवाला फल है, इससे वह जोर से खो खो कर रहा है, डाल को हिला रहा है, नख से खुरच भी रहा है पर जामुन के फलों को छू नहीं रहा है।

'यांचा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा' की उक्ति का प्रकारान्तर भावपेशल रूप देखिए-

हिजअण्णएहिं समअ असमत्ताइं पि जह सुहावन्ति।

कज्जाइं मणे ण तहा इअरेहिं समाविआइं पि।।1।61

(हृदयज्ञैः सममसमाप्तान्यपि यया सुखपन्ति।

कार्याणि मन्ये न तथा इतरैः समापितान्यपि।।)

अर्थात् मनोज्ञ लोगों के साथ कार्य का निष्फल होना भी आनन्ददायक होता है, लेकिन हृदयहीन पुरुयों के साथ कार्य की चरितार्थता भी सुखदायक नहीं होती।

गाथा-सप्तशती में विन्ध्याचल पर्वत का नाम कई बार आया है। इससे यह प्रतीत होता है कि गाथा-सप्तशती की सारी गाथाएँ विन्ध्याचल के परिसर में लिखी गयी है। एक गाथा में विरहिणी को समझाया जा रहा है कि विन्ध्याचल पर्वत पर वर्षा-काल की मेघ माला के समान जो कुछ भी दिखाई पड़ रहा है वह ग्रीष्म-काल को दावाग्नि में झुलसे हुए काले पड़े विन्ध्य पर्वत के शिखर हैं, अभी तुम धैर्य रखो-

गिह्मे दवग्गिमसिमइलिआइँ दीसन्ति विज्झसिहराइं।

आसतु पउत्यवइए ण होन्ति णब पाउसब्भाइं।। 1/70

(ग्रीष्मे दावाग्निमषीमलिनितानि दृश्यन्ते विन्ध्यशिखराणि।

आश्वसिहि प्रोषितपतिके न भवन्ति नवप्रावृडभ्राणि।।)

विन्ध्यपर्वत के साथ ही गाथा-सप्तशती के कवियों ने रेवा (नर्मदा) नदी को बहुत स्मरण किया है। पठारों के बीच बहनेवाली नदी, जिसके किनारे वेतस्, मधूक एवं अन्य वृक्ष-लताओं के अनेक मनोज्ञ कुंज हैं, चैत्र के महीने में जो मालती आदि अनेक फूलों के सौरभ से भर उठते हैं, प्राचीनकाल से अपनी रमणीयता के कारण कामासक्त युवा मनों को आकृष्ट करते रहे हैं। नर्मदा के तट के इन कुंजों की यह विशेषता है कि वे मिलन के लिए एकान्त स्थल होते हैं और उनका परिसर काम-भाव को अभितृप्त करने वाला होता है। इसीलिए गाथा-सप्तशती का कवि कह रहा है कि सभी नदियों के किनारे वनों की कतार होती है, शीतल जल होता है और पक्षी चहकते रहते हैं, किन्तु रेवा नदी का आकर्षण उसके गुणों के कारण कुछ और ही है-

आप बहला वणाली मुहला जलरंकुणो जलं सिसिरं।

अण्णणईणं वि रेवाइ तह वि अण्णे गुणा के वि।।6।78

(सत्यं बहला वनाली मुखरा जलरङ्कवो जलं शिशिरम्।

अन्यनदीनामपि रेवायास्तथाप्यन्ये गुणाः केऽपि।।)

गाथा-सप्तशती के कवियों ने इस परिसर के सामाजिक जीवन के कुछ पक्षों को भी उद्घाटित किया है। पर उनके ऐसे कथन भी काम-भाव की रमणीय उक्तियों से आप्लावित होकर उद्वेलित होते हैं। एक दो उदाहरणों को देखिए। विन्ध्यपर्वत के वनों में व्याध निवास करते हैं उनकी जीविका है आखेट में प्राप्त पशुओं के चर्म, चर्बी आदि बेचकर अपने जीवन का निर्वाह करना। हरिण के आखेट के लिए व्याध को अपने शरीर में स्फूर्तिवत्ता की अपेक्षा होती है, पर युवा व्याध को उसकी युवा पत्नी ने अपने आलिंगन में इतना आबद्ध कर रखा है कि उसके शरीर की स्फूर्ति जाती रही है और वह अब चितकबरे हरिण का शिकार नहीं करता। पत्नी को अपने पति को इस स्थिति पर बड़ा गर्व है, क्योंकि वह उसके प्रेम-भाव में आबद्ध है। चितकबरे हरिण के चर्म के लिए व्यापारी से व्याध की पत्नी कहती है कि दूसरे व्याधों के यहाँ पृषत-चर्म की खोज कर लीजिए। हमारा ब्याध जवान हरिणों पर धनुष नहीं चलाता।

जंगल में रहने वाली आदिवासी जातियाँ जो खेती पर अपना जीवन बसर करती है आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी होती हैं। वे अपनी खेती के लिए, उनके पास जो कुछ अर्थ-साधन होता है, माघ महीने में बैल खरीद लेते हैं, क्योंकि माघ में बैल सस्ते मिलते हैं। वे माघ की ठण्डी रात विना वस्त्र के व्यतीत करते हैं। उधर उनकी तरुणी स्त्रियाँ अपने कामाभिनिविष्ट आलिंगन से उनकी शीतकाल की रात्रियों को सुखद बना देती है-

विक्किणइ माहमासम्मि पामरो पाइडिं वइल्लेण।

णिद्धममुम्मुरव्विअ सामलीअ थणो पडिच्छन्तो।।3।38

(विक्रीणीते माघमासे पामरः प्रावरणं बीवर्देन।

निर्धूममुर्मुरनिभौ श्यामल्याः स्तनौ पश्यन्।।)

गाथा सप्तशती के कवियों ने अपनी काव्य-रचना की क्षमता का सही परिचय दिया है। वे जहाँ अपना काव्य लिख रहे हैं वहाँ के देश और समाज से और भूगोल से भलीभाँति परिचित हैं। वे नदियों के तट की विशेषताओं को जानते हैं। मनुष्य तो मनुष्य पशुओं के भाव से भी परिचित हैं। ऐसे कवि ही देश का सच्चा साहित्य लिखते हैं। जिसमें समाज को संजीवनी मिल सकती है। गाथा-सप्तशती की किसी भी गाथा में राजा की स्तुति या खुशामद नहीं है। गाँव के मुखिया और उसके पुत्र की चर्चा अनेक बार आती है और वह चर्चा सामान्य और नीतिमान नागरिक की दृष्टि से है, क्योंकि कवियों के लिए वह समाज के सामान्य साथी की भाँति हैं।

गाथा-सप्तशती की भाँति अन्य मुक्तक कवि अपने मञ्जुल मुक्तकों में गाँव, वन, नदी, पर्वत, सेवार, ग्राम्यजनों का प्रेम-विलास, दाम्पत्य-सुख आदि विविध वस्तु-पक्षों को चारुता के साथ अभिव्यक्त करते हैं। उनमें काव्य का लालित्य तो है ही, सहजता और सचाई का भी अद्भुत सम्मिश्रण है, जो काव्य के लालित्य को अत्यधिक मनोज्ञ बना देता है। इसमें सम्पूर्ण देश के प्रान्तों की स्त्रियों की प्रकृति, प्रत्येक ऋतु में होने वाली फसलों के सौन्दर्य का चित्र, ग्राम्य जीवन के कुछ अनोखे पक्षों का चित्रण इन मुक्तकों को एक नवीनता से ओत-प्रोत किए हुए है, जो संस्कृत महाकाव्यों में कहीं भी देखने को नहीं मिलेगी। आज परिस्थितियाँ बदल गयी हैं, हमारे वन और गाँवों में वे दृश्य नहीं दिखाई पड़ सकते। इस दृष्टि से भी उन मुक्तकों में पुराकाल का देश-दर्शन सुरक्षित है, क्या यह अत्यन्त गौरव की बात नहीं है? आज जो यथार्थवादी, साम्यवादी अथवा समाजवादी रचनाकार अपने को मानते हैं उन्होंने भी अपने देश के वनों और गाँवों को इस प्रकार न देखा होगा जैसे इन मुक्तक कवियों ने देखा है।

मुक्तक कवियों के इन वर्णनों को पढ़कर यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि भारतीय लोक-जीवन के ठेठ पक्ष को उजागर करने वाला ऐसा मुक्तक- साहित्य कितना ही लिखा गया होगा। किन्तु राजसभा ने महाकाव्य परम्परा तथा नाट्य रंगमंच के स्वागत में ऐसी काव्य-परम्परा को पर्याप्त रक्षण नहीं प्रदान किया और आज उसका प्रचुर भाग लुप्त है। गाथा-सप्तशती की गाथाएँ और ये मुक्तक एक ही स्तर तथा भाव-दृष्टि में हमारे प्राचीन भारत के गाँव, किसान, वन, पर्वत, नदी, प्रकृति एवं लोक-पक्ष के अन्यान्य वस्तुचित्रों को प्रस्तुत करते है जो अत्यन्त विविध है।

विश्वनाथ, बाणभट्ट, मम्मट, रुद्रट आदि आचार्य कवि इस सप्तशती के प्रति न केवल प्रशंसामुखर हुए अपितु इसकी गाथाओं को स्व गृन्थो में अलंकार, रस, ध्वनि आदि को लक्षित करते समय उदाहरण के रूप में रखा। गोवर्द्धनाचार्य ने तो यहां तक कहा कि -मेरी आर्यासप्तशती प्राकृत गाथासप्तशती की माधुरी से सहज मोहित मेरे द्वारा किया गया उसका अनुकरण-मात्र है "वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता"। यह निर्विवाद है कि इसी के बाद संस्कृत एवं संस्कृतेतर भारतीय भाषाओं की सतसइयों की रचना परंपरा प्रचलित हुई- बिहारी सतसई, दयाराम सतसई आदि। इन गाथाओं की उपमा **मिनिएचर पेंटिंग** से दी जा सकती है। बाण ने गाहाकोस कहकर इसकी प्रशंसा की है।

वज्जालग्ग (व्रज्यालग्न) [3]

गाहासत्तसई के ही समान श्वेताम्बर मुनि 'जयवल्लभ' द्वारा 795 गाथाओं से गुम्फित अनेक रचनाकारों द्वारा निर्मित प्राकृत सुभाषित गाथाओं (पद्यों) का संकलन है-वज्जालग्ग। "वज्जा" -"व्रज्या "साधु या भिक्षु के परिचंक्रमण या विहार को कहते हैं।[4] व्रज+क्यप्+ टाप्।बौधों में" चारिक "प्रसिद्ध हैं। मुनी जयवल्लभ ने अपने परिचंक्रमण के क्रम में गाथाओं को एकत्र(लग्न) किया और इसका नाम वज्जालग्ग रख दिया।

आर्याछन्द में उपनिबद्ध इस संग्रह में धर्म, अर्थ एवं काम का निरूपण किया गया है। वज्जालग्ग का वज्जा शब्द देशी है, जिसका अर्थ अधिकार, पद्धति या प्रस्ताव होता है। एक विषय से सम्बद्ध कतिपय गाथाएं एक वज्जा के अन्तर्गत संकलित की गई हैं, जैसे भर्तृहरि के नीतिशतक में पद्धतियाँ हैं। जयवल्लभ ने प्रारम्भ में ही इसका स्पष्टीकरण किया है-

विबिहकइविरइयाणं गाहाणं बरकुलाणि घेत्तृण।

रइयं वज्जालग्गं विहिणा जयवल्लहँ नाम।।3।।

(एक्कत्थे पत्थावे जत्थ पढिज्जन्ति पउरगाहाओ।

तं खलु बज्जालग्गं वज्ज त्ति य पद्धई भणिया।।4।।)

इस काव्य के 95 वर्गों या प्रस्तावों में कवि ने लोकजीवन से सम्बद्ध भावनाओं का संग्रह किया है। कतिपय वज्जाओं के नाम इस प्रकार हैं–श्रोतृ, गाथा, काव्य, सज्जन, दुर्जन, मित्र, स्नेह, नीति, धीर, साहस, दैव, विधि, दीन, दारिद्रय, सुगृहिणी, सती, असती, कुट्टिनी, वेश्या, बसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट्, शरत्, हेमन्त, शिशिर, कमल, चन्दन, वट, ताल, पलाश, रत्नाकर, सुवर्ण, दीपक आदि।

सज्जनवज्जा में कवि ने सज्जन के विषय में जिन उदात्त भावाभिव्यंजक गाथाओं का संकलन किया है या उनमें कुछ अपनी भी रचित गाथाएं रखी हैं वैसे भावों का निरूपण अन्य किसी कबि ने संभवतः नहीं किया है। **सुघरिणी वज्जा** में भारतीय ललना का सुन्दर वर्णन किया गया है। **दरिद्रवज्जा** आदि में भी कवि ने हृदयस्पर्शी भावों की ही अभिव्यक्ति की है। श्रृंगाररसपरक पद्यों में भी कवि ने धार्मिक और वीरभावों को व्यक्त किया है। ग्रन्थकार के जैन होने पर भी इस संग्रह में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता दृष्टिगोचर नहीं होती है।

अनुमान किया जाता है कि इसका रचनाकाल चौथी शताब्दी है।

इस काव्य पर सं० 1393 में रत्नदेवगणि ने एक संस्कृत टीका लिखी। इस टीका के लेखन में प्रेरक कोई धर्मचन्द्र थे जो बृहद्गच्छ के मानभद्रसूरि के शि हरिभद्रसूरि के शिष्य थे। इस ग्रन्थ में अनेक गाथाएं हेमचन्द्ररचित और सन्देश-रासक के लेखक अब्दुलरहमानरचित संकलित हैं। अनुमान है कि टीकाकार ने इन गाथाओं को पीछे से जोड़ दिया है। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु के अन्तरंग-परीक्षण से ज्ञात होता है कि काव्य के कलेवर में बाद की शताब्दियों तक वृद्धि होती रही है।

वज्जालग्गम् में प्राकृत काव्य को अमृत कहा गया है-

अमयं पाइयकव्यं पढिउं सोउं च जे न याणन्ति।

कामस्स तत्ततिं कुणन्ति ते कह न लज्जन्ति ।।1।।

(अमृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुश्च ये न जानन्ति।

कामस्य तत्त्वतन्त्री क्वणन्ति ते कथं न लज्जन्ते।।1।।)

अमृतरूप प्राकृतकाव्य को पढ़ना और सुनना जो नहीं जानते, किन्तु काम की तत्त्वभूत वीणा को बजाते हैं, वे लज्जित क्यों नहीं होते?।।1।।

दुक्खं कीरइ कव्यं कव्वम्मि कए पयुञ्तणा दुक्खं

सन्ते पउञ्जमाणे सोयार दुल्लहा होन्ति।।2।।

(दुःखं क्रियते काव्यम्, काव्ये कृते प्रयोजना दुःखम्।

सति प्रयुज्यमाने, श्रोतारो दुर्लभा भवन्ति।।2।।)

काव्यरचना कठिनाई से होती है, काव्यरचना हो जाने पर भी उसका प्रयोग (वाचन) कठिन होता है, प्रयोग हो जाने पर भी उसके श्रोता दुर्लभ होते हैं।।2।।

प्राइयकव्वम्भि रसो जो जायइ तह व छेयभणियेहिं।

उदयस्स च वासिअसियलरस तितिं न वच्चामो।।3।।

(प्राकृतकाव्ये रसो यो जायते तथैव छेकभणितैः।

उदकस्य वासितशीतलस्य तृप्तिं न व्रजामः।।3।।)

प्राकृत काव्य में जो रस उत्पन्न होता है उससे, तथा उसी प्रकार विदग्धों की उक्तियों से तथा सुगन्धित एवं शीतल जल से, कभी सन्तोष नहीं होता।।3।।

जं-जि खमेइ समत्थो धणवन्तो जं न गव्वं उव्वहइ।

जं च सविज्जो नमिरो तिसु तेसु अलंकिया पुहदी।।6।।

(यच्चित् क्षमते समर्थो धनवान् यन्न गर्वमुद्वहति।

यश्च सविद्यो नम्ररित्रषु तेष्वलङ्कृता पृथिवी।।6।।)

समर्थ व्यक्ति, जो क्षमा करता है, धनी व्यक्ति, जो गर्व नहीं करता तथा विद्वान्, जो विनम्र होता है, इन तीनों से पृथ्वी सुशोभित होती है।।6।।

अप्पाणं अमुणन्ता जे आरम्भन्ति दुग्गमम् कज्जं।

परमुहपलोइयाणं ताणं कह होइ जयलच्छी।।7।।

(आत्माननममन्यमाना य आरभन्ते दुर्गमं कार्यम्

परमुखप्रलोकितानां तेषां कथं भवति जयलक्ष्मीः।।7।।)

अपने आप को ठीक न समझते हुए जो लोग दुर्गम कार्य का आरम्भ करते हैं, पर मुखापेक्षी उन लोगों को, भला! विजयलक्ष्मी कैसे मिल सकती है?।।7।।

तुङ्गो च्चिय होइ माणो मणंसिणो अन्तिमासु वि दसासुः

अत्थयन्तस्स वि रविणो किरणा उद्धं चिय फुरन्ति।।8।।

(तुङ्गमेव भवति मनो मनस्विनोऽन्तिमास्वपि दशासु।

अस्तमयमानस्यापि रवेः किरणा ऊर्ध्वमेव स्फुरन्ति।।8।।)

मनस्वी व्यक्ति का मन अन्तिम दशा में भी ऊँचा ही होता है। अस्त होते हुए भी सूर्य की किरणें ऊपर की ओर ही स्फुरित होती है।।8।।

न महुमहणस्स वच्छे मज्झे कमलाण नेय खीरहरे।

ववसायसायरे सुपुरिसाण लच्छी फुडं वसइ।।9।।

(न मधुमथनस्य वक्षसि मध्ये कमलानां नैव क्षीरघरे।

व्यवसायसागरे सुपुरुषाणां लक्ष्मीः स्फुटं वसति।।9।।)

न तो मधुसूदन (भगवान् विष्णु) के वक्षस्थल में, न तो कमलों के मध्य में, न क्षीर सागर में ही लक्ष्मी निवास करती है। अपितु वह लक्ष्मी सत्पुरुषों के व्यवसायरूपी समुद्र में निश्चित रूप से निवास करती है।।9।।

प्राकृत की उक्त दो मुक्तक माणियों के अतिरिक्त समयसुन्दरगणि का 1619 ई0 में **गाथासाहस्त्री** एवं डॉ० जगदीश चन्द्र जैन का **प्राकृतपुष्करिणी** भी वैविध्यमूलक जीवन-दर्शन की दृष्टि से प्राकृत के अक्षय कीर्तिमान है, जो लौकिक और अलौकिक विषयों की गाथाओं का संग्रह है।

इस प्रकार इन मुक्तक काव्यों में पूर्वापर का कोई सम्बन्ध नहीं होता व इनके एक-एक पद्य प्रबन्ध के समान पूर्ण होते हैं। एक ही पद्य सहृदय पाठक को चमत्कृत करने में अद्भुत सामर्यथ्ययुक्त होता हैं इनमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्यार्थका प्राधान्य व गीतात्मकता का पुट भी होता है।

सन्दर्भ

1. प्राकृत भाषा व साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1966, पृ० 369।
2. कोशकारों ने भी हाल को सातवाहन या शालिवाहन का ही पर्याय माना है। हाल: स्यात्सातवाहन: (हैमनाम माला)।
3. जिनरत्नकोश, पृ० 340, यहाँ इसके पद्यालय, वज्रालय आदि नाम दिए गए हैं। बिब्लियोथेका इंडिका सीरीज (रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1914–1923)।
4. संदर्भ: वामन शिवराम आप्टे संस्कृत हिंदी कोश, पृष्ठ 993।
5. कवि और काव्यशास्त्र – प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डेय, प्रथम संस्करण, 1981, राका प्रकाशन, इलाहाबाद।
6. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास – भाग–6 (काव्य–साहित्य), पाश्र्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1973।
7. पालिपाइअवीमंसा – हरिराम मिश्र, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2009।
8. पालि–प्राकृत–अपभ्रंश संग्रह – रविनाथ मिश्र, रामअवाध पाण्डेय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
9. प्राकृत जैन कथा साहित्य – डा० जगदीश चन्द्र जैन, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, 1971।
10. प्राकृत साहित्य का इतिहास – डा० जगदीश चन्द्र जैन, चैखम्भा संस्कृत विद्याभवन, वाराणसी, 1966।
11. संस्कृत हिन्दी कोश – वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1966।
12. Ibid.